Gyanvividha, Vol.-3; Issue-2 (Apr.-June) 2026 : PP-324-328

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-6.125
Vol.-3; Issue-2 (Apr.-June) 2026
Page No.- 324-328
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

डॉ. आलोक प्रभात

सहायक प्राध्यापक (वरीय वेतनमान), हिन्दी विभाग, एम. के. कॉलेज, लहेरियासराय, दरभंगा.

Corresponding Author :

डॉ. आलोक प्रभात

सहायक प्राध्यापक (वरीय वेतनमान), हिन्दी विभाग, एम. के. कॉलेज, लहेरियासराय, दरभंगा.

विद्यापति का समय और समाज

आज से कोई छह सौ साल पहले दिल्ली से हज़ार किलोमीटर दूर मिथिला के एक चौके में चूल्हे पर तेल गरम हो रहा है। तिलकोड़ के पत्तों पर बड़े जतन के साथ बेसन लेप कर तला जा रहा है। गृहस्वामी पीढ़े पर जीमने बैठे हैं। उनको यह भोजन बहुत पसन्द है। इससे पहले घर में सवा लाख मिट्टी के पार्थिव लिंगों से शिव की आराधना हुई है। भोजन करके घरैते राजधानी गजरथपुर जाएँगे। तिरहुत के राजा को उनसे कुछ अतिआवश्यक मंत्रणा करनी है। असल मे बात यह है कि जौनपुर के इब्राहिम शाह शर्की की सेना तिरहुत के द्वार तक चढ़ आई है। उतनी बड़ी सेना का सामना करना तिरहुत जैसे छोटे से राज्य के लिए सम्भव नहीं है। शत्रु के आगे शस्त्र-समर्पण कायरता होगी तो युद्ध मूर्खता। राजा की मौत इन दोनों में ही है। ऐसे में वे एक तीसरा विकल्प चुनते हैं। समझौते के लिए सेनापति को आगे भेज कर स्वयं नेपथ्य में चले जाते हैं। राज चलाने का रुक्का रानी के नाम लिख कर ऐसे चले जाते हैं कि तिरहुत की जनता अपने स्वामी को दोबारा देख नहीं पाती।

राजा, सिंहासन, आसन्न संघर्ष और ताज़ा-ताज़ा हुए समझौते में हम उस गृहस्वामी को कहाँ भूल गए जो शिव की आराधना करके चौके में जीमने बैठा है। अब आगे वही तो तारणहार है, जलभर मीन-भूमि का। जिसे जौनपुर और बंगाल में बैठे बगुले अपनी मुँह में डालने को आँखें गड़ाए बैठे हैं। "इस तारणहार ने एक साथ दो-दो भूमिकाओं का निर्वहन किया - तारणहार और सिरजनहार भी। तारणहार कि हर हाल में तिरहुत का राज बचा रहेगा, धर्म-मत बचा रहेगा, पहचान क़ायम रहेगी और सिरजनहार उस काव्य के जो इस समय निराश और भयभीत प्रजा को मृत्यु और मोक्ष से उठा कर काम और आनन्द की ओर ले जाते हैं।"[1]

उपर्युक्त चित्रण विद्यापति के जीवन पर लिखे गए उपन्यास 'सिरजनहार' से लिया गया है। इसमें मोटे तौर पर मिथिला की तत्कालीन संस्कृति, समाज और विद्यापति के कन्धों पर आए उत्तरदायित्व का एक खाका खींचने का प्रयास किया गया है। विद्यापति पर कोई भी बात

करते हुए उनके सभी रूपों को भली-भाँति देखना आवश्यक है। चूँकि उस समय का इतिहास बड़ा ही जटिल है, श्रोत कम हैं, जो हैं भी वे उलझे हुए हैं इसलिए, हम बार-बार विद्यापति का समग्र मूल्याँकन नहीं कर पाने का दोष लेते हैं। विद्यापति को जानने के लिए इतिहास का अच्छा ज्ञान, साहित्य की बेहतर समझ और एक संवेदनशील हृदय चाहिए।

विद्यापति का परिवार तिरहुत के राजा के यहाँ महत्वपूर्ण पदों पर रहा था। यह सम्मानजनक स्थान विद्यापति के पूर्वजों के समय से चला आ रहा था। जिस प्रकार कर्नाट वंश के समय ओइनवार वंशीय ठाकुर उनके पुरोहित, मन्त्री और सलाहकार की भूमिका में थे ठीक उसी प्रकार ओइनवार वंश के ठाकुरों के राजा बनते ही यह स्थान विद्यापति के परिवार को मिला था। ऐसा मालूम पड़ता है इन दो शक्तिशाली ब्राह्मण परिवारों में शक्ति-संतुलन साधने का कोई समझौता रहा होगा। ठीक उसी प्रकार जैसे बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में पश्चिम एशिया में एक आधुनिक राष्ट्र-राज्य के रूप में सऊदी अरब की स्थापना हुई थी। इसके पीछे वहाँ के दो शक्तिशाली परिवारों सऊद और वहाब के बीच हुई एक संधि थी जिसमें, शासन का सूत्र सऊद परिवार को मिला और मक्का-मदीना जैसे दुनिया भर के मुसलमानों की आस्था के केन्द्र रूपी धाम का पौरोहित्य वहाब परिवार को प्राप्त हुआ।

तब का तिरहुत एक राज्य के रूप में दक्षिण के राज्यों तथा राजस्थान के मेवाड़ की तरह चाहे सशक्त नहीं था किन्तु सांस्कृतिक और शैक्षणिक रूप से यह बड़े महत्व का था। मुसलमानों के आक्रमण के बाद चाहे अजमेर के प्रमुख संस्कृत अध्ययन केन्द्र सरस्वती कंठाभरण विद्यापीठ को तोड़ कर उसे 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' में बदल दिया गया हो किन्तु इन आक्रमणों के सदियों बाद तक यह स्थान (तिरहुत) संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन के केन्द्र के रूप में माननीय बना रहा। ऐसे में उस समय तिरहुत को बचाने का अर्थ संस्कृत को बचाना भी था। इसलिए यहाँ का शासन समन्यव से चला, संघर्ष से नहीं। विद्यापति इसी समन्वय के चेहरे थे। उन्होंने राज-दरबारी और कवि, कूटनीतिज्ञ और धर्म को संहिताबद्ध करने वाले पुरोहित, इन सभी भूमिकाओं के बीच तालमेल बैठाना।

तिरहुत का यह शासन कैसे स्थापित हुआ, इस पर एक दृष्टि डालते हैं - 1097 में बिहार के तिरहुत क्षेत्र में एक नई राजनीतिक इकाई बनी थी। तिरहुत अर्थात तीर भुक्ति प्रदेश। कई नदियों के तीर से घिरा। उत्तर में हिमालय, पश्चिम, दक्षिण और पूरब में क्रमशः गंडक और महानंदा नदियाँ इसकी सीमा रहीं। इसे चालुक्यों के सेनापति न्यायदेव ने स्थापित किया था। नाम पड़ा कर्नाट वंश। कर्नाटक से आए लोगों का वंश। इसकी राजधानी बनी सिमराओ गढ़ जो अब नेपाल के बारा जिले में स्थित है।"[2]

न्यायदेव द्वारा स्थापित यह राज्य देव वंश या सिमराव वंश भी कहलाया। न्यायदेव ने यहाँ की एक स्थानीय मैथिल ब्राह्मण कन्या से विवाह किया। आगे इस वंश में राजा हरिसिंह देव हुए जिन्होंने सवर्ण जातियों में पंजी प्रथा को लागू किया। यह प्रथा कुछ ख़ास जातियों के पूर्वजों का कुलीनता के आधार पर रीकॉर्ड रखने का काम करती थी। इस व्यवस्था में तत्कालीन समय के समाज में चल रही संरक्षणशील प्रवृत्तियों को देख सकते हैं। तब हिन्दू और मुस्लिम कुलीनों ने आपस में एक कार्यकारी सम्बंध बना लिया था। दो धर्मों के कुलीनों के बीच का यह मेल-जोल नस्ल की शुद्धि में मिलावट न करे इसलिए यह व्यवस्था आई होगी। इसने राजा को बुरी तरह से अलोकप्रिय बना दिया। उन्हीं दिनों जब गियासुद्दीन तुग़लक बंगाल के विद्रोह को दबाने आया तब देहली लौटते समय उसने तिरहुत के राज्य पर भी आक्रमण करके कर्णाट वंश को समाप्त कर दिया। इस वंश के अंतिम शासक सिद्ध हुए हरिसिंह देव को अपना शासन अपने ही मंत्री कामेश्वर ठाकुर के हाथों में सौंप देना पड़ा। इसके बाद तिरहुत राज्य की स्वतंत्रता जाती रही और नए आए शासक दिल्ली-तुग़लकों के सूबेदार जैसी स्थिति में थे। कामेश्वर ठाकुर ने अपने कुल के पूर्व पुरुष ओइन ठाकुर के नाम पर ओइनवार वंश या 'ओहीनवार' वंश की स्थापना की। इसे सुगौना गाँव के नाम पर सुगौना वंश भी कहते हैं।

ठीक-ठीक से इस वंश की स्थापना 1353 ईस्वी में हुई। तब दिल्ली सल्तनत के सुल्तान फिरोजशाह तुग़लक ने भोगीसराय को अपने भाई के समान बताया और तिरहुत का राज्य उनके हाथों में दे दिया। विद्यापति रचित

कीर्तिलता के अनुसार इन्हीं भोगीस राय के पुत्र राऊ गणेश्वर थे जिन्हें अर्सलान शाह नाम के एक तुर्क सेनापति ने छल से मार दिया था। यह घटना 1362 की है। ध्यान दें कि तब दिल्ली सल्तनत पर फ़िरोज़शाह को आसीन हुए ग्यारह वर्ष हो गए थे और वे अपने शासन के अच्छे दिनों में थे। राऊ गणेश्वर के भाई देव सिंह थे। गणेश्वर के मारे जाने के बाद उन्होंने तब तक राज्य संभाला जब तक गणेश्वर के पुत्र कीर्तिसिंह जौनपुर में शासन कर रहे इब्राहिम शाह शर्की की मदद नहीं ले आते। ऐसा भी नहीं था कि कीर्तिसिंह पिता के मरते अचानक ही मदद के लिए सुल्तान के पास चले गए और उनकी सेना की मदद से राज्य को हासिल कर लिया। इस पूरी प्रक्रिया में दस वर्षों का समय लगा। 1372 में सुल्तान की मदद से वे अपना खोया हुआ राज्य पा सके।

इसी दरबार में विद्यापति अपने बाल्यकाल से जाते रहे थे। युवा होने पर वे उसके एक मज़बूत स्तम्भ बने। उनकी रचनाएँ इसी दरबार से, इस राज के गाँवों से और राज्य को स्थिरता देने के लिए देहली और जौनपुर की शासकीय यात्राओं में हुईं।

देसिल बयना सब जन मिट्ठा तैं तैसन जपअओं अवहट्टा में विद्यापति कहते हैं कि देसी बोली सबको मीठी लगती है इसलिए मैंने अवहट्ट का प्रयोग इस प्रकार से किया है कि यह देसी लगे। एक समय था जब अपभ्रंश सारे मध्यदेश की साहित्य भाषा थी। ठीक उसी प्रकार जैसे मानसून के मेघ एक समान सारे देश के आकाश को आच्छादित करते हैं। वहीं कुछ महीनों बाद हिमालय से टकरा कर लौटता मानसून वर्षा तो कराता है लेकिन उसका यह अखिल स्वरूप जाता रहता है। इस सीमा तक कि एक गाँव में मूसलाधार वर्षा हुई और दूसरे गाँव की सड़क सूखी रह गई। अपने चरम विकास के बाद अपभ्रंश के मेघ भी यूँ ही खंडित होकर अलग-अलग स्थानों पर गिरे और देसी भाषाओं का उदय हुआ। विद्यापति के काव्य में उस अवहट्ट का आस्वाद मिलता है जो अखिल मध्यदेसीय अपभ्रंश मेघ के मिथिला के मछली-मखाने वाले तालों में झर जाने से बना था। इस नए ढंग के अपभ्रंश की अपनी विशेषता थी, उसका यथार्थ चित्रण करना। विद्यापति से पहले के अपभ्रंश में वीर गाथाएँ खूब लिखी गईं थीं। युद्ध लड़ने वाले दोनों पक्षों के अतिश्योक्ति से भरे वर्णन थे। चाहे एक पक्ष विदेशी भूमि से आए दूसरे धर्म का ही क्यों न हो, एक पक्ष विशेष के हार जाने से चाहे इस देश की धर्म-संस्कृति की कितनी ही हानि क्यों न हो, अपभ्रंश में लिखने वाले कवियों की सहृदयता इससे प्रभावित नहीं होती थी। कवियों का रुझान पूरी तरह से धर्मनिरपेक्ष था। रासो में पृथ्वीराज को पराजित करने वाले मोहम्मद गोरी को चंदवरदाई ने मुस्लिम चित्रित करके हिन्दूशाही के लिए भय प्रकट नहीं किया। किंतु विद्यापति के अपभ्रंश में यह चिंता बराबर थी कि मुस्लिम शासन आने के बाद से इस देश की सनातन धर्म-संस्कृति का क्या होगा। यह केवल संयोग नहीं है कि डॉ. रामविलास शर्मा ने विद्यापति को हिंदी का पहला यथार्थवादी कवि कहा था। वह यथार्थ क्या था? हिन्दू जाति की पहचान पर उत्तरोत्तर बढ़ता संकट। विद्यापति की अवहट्ट रचना कीर्तिलता में यह चिंता बराबर बनी हुई है। दूसरी ओर उन्हें राजा (चाहे वह मुसलमान ही क्यों न हो) की न्यायप्रियता पर विश्वास था। वे राजा की लम्बी आयु की कामना करते हुए चिर जीवै सुरताण कहते हैं तो दूसरी ओर मुसलमानों को हिन्दू बोलहि दुरहिं निकार, छोटेओ तुरुक्का भभकी मार भी कहते हैं। सुल्तान से रार तिरहुत के लिए संकट होगा मगर हिंदुओं पर होने वाले अत्याचार पर चुप्पी तिरहुत की जनता के लिए उनकी आवाज़ का दबना होता। विद्यापति ने सुल्तान की प्रशंसा और उसके कारिंदों की धर्मांधता की आलोचना, दोनों विरोधाभाषी तत्वों को एक साथ साधा। इसलिए मेरी दृष्टि में वे एक डिप्लोमेट कवि थे। एक ओर उनके संस्कृत ग्रन्थ विभागसार दासों के क्रय-विक्रय के बारे में हैं तो दूसरी ओर उनकी ही रानी लखिमा देई उनके देखते-देखते सती हो जातीं हैं, स्त्रियों के लिए इतना संवेदनशील दिखने वाला कवि इसे रोकता नहीं। एक ओर वे गया पत्तलक में श्राद्ध की विधियाँ सुझा कर हिन्दू धर्म को अपने हिसाब से संहिताबद्ध करते हैं तो दूसरी ओर अपनी मैथिल रचनाओं में वे काफ़ी मुक्त और खुले हुए भी दिखाई पड़ते हैं। यह पद देखें - **“कुलबति धरम काँच समतूल। मदन भेल दलाल अनुकूल।।**

आनल बेचि नीलमनि हार। से तुहू पहिरबि करि अभिसार।।

जो विद्यापति संस्कृत में धर्म की ध्वजा पकड़ते हैं, अपभ्रंश में दरबार की संस्कृति में रचते-बसते हैं वहीं विद्यापति अपनी 'देसिल बयना' में धर्म को काँच के समान और प्रेम को नीलमणि का हार बता रहे हैं। ऐसा लगता है जैसे राजपुरुष के रूप में वे राज्य की स्थिरता और उसकी व्यवस्था की दृढ़ता के लिए हर कार्य करते हैं और फिर उस स्थिर तथा दृढ़ राज्य में जनता को कुछ छूट दे रहे हैं। इस छोटे से लगने वाले छूट शब्द पर अधिक जोर देना चाहिए। क्योंकि मध्यकाल का कोई भी कवि स्वतंत्रता और स्वाधीनता की बात करता हो यह हमारा खयाली पुलाव ही हो सकता है, सत्य नहीं। वे सभी अपने युग की सोच से बँधे हुए थे। कवि होकर वे छूट दे रहे थे, स्वतंत्रता नहीं। विद्यापति भी एक कसी-बँधी व्यवस्था में आमजन को कुछ छूट ही दे रहे थे।"[3]

विद्यापति के काव्य में उनके युग के सन्दर्भ जैसे झर-झर कर आए हैं। यह ऐतिहासिक तथ्य भी है कि फ़िरोज़शाह तुग़लक़ के ज़माने में नहरों का खूब विकास हुआ। आज जिन चीज़ों को 'इंफ़ास्ट्रक्चर' कहते हैं उन सभी चीज़ों का खूब विकास हुआ था। आज चीन बहुत आगे है। 'इंफ़ास्ट्रक्चर डेवलपमेंट' में भी और 'विनिर्माण के हब' के रूप में भी। इस प्रकार के विकास में प्रायः सस्ते श्रम की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। फ़िरोज़शाह के दौर का वह विकास भी ऐसे श्रम पर ही टिका हुआ था। तब श्रम सस्ता ही नहीं बल्कि मुफ़्त का भी होता था। सल्तनत दौर के सुल्तानों ने हिन्दू राजाओं के राज्य पर आक्रमण किए, छापे डाले और असंख्य लोगों को जंज़ीरों में बाँध कर ले आए। इन्हीं ग़ुलामों ने सुल्तानों के देखे गए विकास के सपनों को साकार किया। तब जीवन का कुछ भी तय नहीं था कि कब कौन कहाँ से उठा लिया जाएगा। कौन सी राजनीतिक इकाई भंग कर दी जाएगी।

उन दिनों की एक लोककथा है जिसमें विद्यापति एक अकिंचन बालक उगना को अपने परिवार में शरण देते हैं। उगना के माता-पिता और परिवार का पता नहीं है। वह अनिकेत है। अर्थात जिसका कोई भी घर-बार नहीं है। एकदम भगवान शिव की तरह। जाति-वर्ण से परे। उसे शिव माना जाता है। ऐसे समय में वह शिव का प्रतीक बनता है जब मतांतर जोरों पर था। सैनिक अधिक पैसा पाने, जजिया से बचने और बेहतर भविष्य के लिए इस्लाम अपना रहे थे। बदले में उनकी पत्नियाँ उन्हें छोड़ रही थीं बच्चे अनाथ हो रहे थे। उगना ऐसे ही एक टूटे-बिखरे और व्यवस्था विहीन परिवार का बालक है। उसकी समानता शिव से है जो आगे चल कर रूढ़ हो जाती है। उगना में क्या आपको दास बनाए लोगों के बच्चों का रूप नहीं दिखता, जो सुल्तान की सेवा में चले जाने वाले माँ-बापों के पीछे अनाथ छूट जाते थे?

एक बात और हो सकती है, इसके ऊपर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। क्योंकि उलझे हुए उस इतिहास में हो सकता है से अधिक किसी प्रामाणिक पद का प्रयोग करके तथ्यों और संभावनाओं में प्रामाणिकता नहीं लाई जा सकती। राजा शिवसिंह इब्राहिम शाह शर्की से युद्ध लड़ कर तिरोधान कर गए। वे वीरगति को प्राप्त नहीं हुए अपितु ऐसी जगह अज्ञातवास में चले गए जहाँ उनके बारे में कोई नहीं जान सकता था। उगना नामक विद्यापति का नौकर कहाँ का था, कहाँ से आया था यह भी कोई नहीं जानता था। वह भगवान शिव था और उसका कवि विद्यापति के घर में इसी समझदारी के साथ रहना सम्भव हो सका था कि वे उसकी असल पहचान किसी से कभी नहीं बताएँगे। एकदिन यह रहस्य खुलता है कि उगना ही भगवान शिव है और उगना हमेशा के लिए चला जाता है। हो सकता है कि उगना भगवान शिव न होकर युद्ध भूमि से निकले राजा शिवसिंह 'रूपनारायण' हों जिन्होंने अपने मित्र और राज्य के विश्वस्त अधिकारी विद्यापति के घर को अपने अज्ञातवास के लिए चुना हो।

र्विद्यापति का सर्वाधिक महत्व उनके द्वारा अपने युगीन संदर्भों के चित्रण का है। " युग जहाँ मुस्लिम के विरुद्ध मुस्लिम का सहयोग अपरिहार्य हो गया था। जहाँ भारत के ऐतिहासिक हिन्दूशाही राजे समाप्त हो चले थे। समाप्त होने से पूर्व भारत के ये ऐतिहासिक राजा अपने दरबारी कवियों के अतिशयोक्ति भरे काव्य नायक होकर भगवान होने ही वाले थे कि उत्तर पश्चिम से एक दूसरे धर्म को मानने वाले, बेहद संगठित और जोशीले लोगों के आक्रमण होने लगे।

फिर ये सभी शासक भगवान बनते बनते रह गए और इनके लोग उन हमलों के विरुद्ध लड़ने वाली हिन्दू पहचान में बदल गए। कीर्तिलता उस पहचान का महत्वपूर्ण काव्य है। इसमें विद्यापति के व्यक्तित्व को उनके समय की सीमाओं में जाना जा सकता है कि किस प्रकार से वे राज्य चलाने के लिए तथा उसके कुलीन वर्गों की शुद्धता बनाए रखने के लिए सामन्ती ढंग से सोच रहे थे, धर्म समाप्त न हो जाए इसलिए उसे पुरोहित की चिंता से संहिताओं में बद्ध कर रहे थे तो दूसरी ओर एक नए शत्रु वर्ग तुर्क के विरुद्ध अपने राज्य के लोगों का सहयोग लेने के लिए निम्न वर्ग और स्त्रियों को पूरी छूट भी देते हैं। वे सामंतवाद और जनवाद के बीच, हिन्दू सिंहासन तथा मुस्लिम तख़्त तथा सिरजनहार और राज्य के तारणहार के रूप में अपनी दो परस्पर विरोधी भूमिकाओं में संतुलन बना रहे थे।"[4] वे कबीर, सूरदास और तुलसीदास से पहले की शताब्दियों में हुए थे। राज सिंहासन और जनता के चित्त के बीच के सेतु के रूप में उनकी स्थापित की हुई परंपरा हिंदी में बहुत दृढ़ दिखाई नहीं देती। एक ओर वे स्वयं अपने पूर्ववर्ती अमीर ख़ुसरो की तरह दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर उनकी कुछ झलकी अब्दुर्रहीम खानेखाना में दिखाई पड़ती है।" ख़ुसरो भी मुस्लिम सुल्तान का दरबारी इतिहास और आम जनता के चित्त में बसने वाले लोकगीत दोनों लिख रहे थे। रहीम अकबरी दरबार के बड़े नाम थे, दरबारी होने और आम जनता का कवि होने की विरोधाभाषी भूमिकाएँ निभा रहे थे। विद्यापति के साथ बीते हिंदी के आदिकाल के बाद आए मध्यकाल में संतन को कहाँ सीकरी सो काम का दर्शन रहा तो इसके अंतिम दौर में कवियों ने दरबार से बाहर देखा ही नहीं।"[5] विद्यापति से सूरदास ने दृष्टिकूट के पद लिए, तुलसीदास ने राम के वनगमन का चित्रण कीर्तिलता से लिया तो कबीरदास ने हिन्दू-मुस्लिम के द्वंद्व और एक्य का चित्रण लिया।

संदर्भ :

1. डॉ. शिवप्रसाद -विद्यापति, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1954, पृष्ठ संख्या-58.
2. डॉ. अवधेश प्रधान- कीर्तिलता और विद्यापति का युग, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी-2005, पृष्ठ संख्या-83.
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-1940, पृष्ठ संख्या-76.
4. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-1952, पृष्ठ संख्या-103.
5. वही, पृष्ठ संख्या-118.

•